ज्ञान की संरचना

रमा कान्त अग्निहोत्री

बच्चे अपने ज्ञान की संरचना कैसे करते हैं? अपने आस–पास की दुनिया को कैसे समझते हैं? ऐसा क्यों होता है कि बच्चे अक्सर अपने आस–पास की अनेक जटिल बातें सहज समझ लेते हैं। 'सहज' कहने से यह तात्पर्य नहीं उन्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। केवल इतना ही कि यह परिश्रम वे स्वयं करते हैं और अपनी समस्या अपने तरीक़ों से सुलझाते हैं। लेकिन स्कूल में पचास बार समझाने पर भी उनकी समझ में बात नहीं आती? उदाहरण के लिए क्यों हर अध्यापक को स्थानीय मान की अवधारणा समझाने के लिए इतना परिश्रम करना पड़ता है? वे सब बड़े जटिल प्रश्न हैं। इसका कोई सरल व सहज उत्तर हमारे पास नहीं हैं। लेकिन फिर भी इतना साफ़ है कि यदि ज्ञान–संरचना की प्रक्रिया को हम थोड़ा बहुत भी समझ पाएं तो हमें कक्षा में पढ़ाने व गतिविधियां व पुस्तकें बनाने में काफ़ी मदद मिलेगी। जंगल की मोटी–मोटी जानकारी हो तो रास्ते बनाने व खेमे गाड़ने सुगम हो जाते हैं।

सीखने की प्रक्रिया में हमें तीन चीज़ों के बारे में सोचना ही पड़ेगा–पर्यावरण, समाज व बच्चा। पर्यावरण में सब शामिल– पेड़–पौधे, जीव–जन्तु, हवा, पानी, आग, आकाश, तारे आदि। समाज में माता–पिता, परिवार, दोस्त, अध्यापक आदि। हर समाज की अपनी संरचना होती है और अपनी संस्कृति और मूल्य। बच्चे के शरीर का हर अंग सीखने की प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शायद दिमाग़। दिमाग़ तो शरीर का ही हिस्सा है फिर भी अलग क्यों? शरीर में पहुंचनेवाली हर संवेदना दिमाग़ में जाती है और दिमाग़ ही शरीर को अलग–अलग निर्देश देता है। ज्ञान की संचरना की छवियों व नियमों के बारे में दिमाग़ ही शरीर को अलग–अलग निर्देश देता है। ज्ञान की संरचना की छवियां व नियम भी दिमाग़ में ही बनते हैं न कि हाथ व पैर में। कुछ ज्ञान के क्षेत्रों का तो शिशुकाल में ही इतना विकास और विस्तार हो जाता है कि हम यह सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि शायद कुछ विशेष तरह का ज्ञान जन्मजात है। संभव है कि सीखने की कुछ क्षमताएं शरीर व पर्यावरण से स्वतंत्र हो। भाषा को लेकर यह प्रश्न अक्सर चर्चा का विषय बना रहता है। क्योंकि 2 साल का बच्चा भाषा की दृष्टि से वयस्क हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपनी भाषा के सभी शब्द जानता है। वह तो कोई भी नहीं जानता। यही कि वह अपनी भाषा की संरचना के नियम जानता है। और नियम जानने का यह अर्थ नहीं कि वह एक भाषा–वैज्ञानिक की तरह व्याकरण के नियमों पर चर्चा कर सकता है। केवल यही कि उसे सही व गलत वाक्य की पहचान हो जाती है। वह नित असंख्य नये वाक्य बोलता व समझता है। और यह तब तक संभव नहीं है जब तक स्वयं के दिमाग़ में कुछ नियम न हो। क्या हमारे दिमाग़ में कोई अंग है जो केवल भाषा के लिए ही बना है? जैसे आंखे देखने के लिए व कान सुनने के लिए आदि।

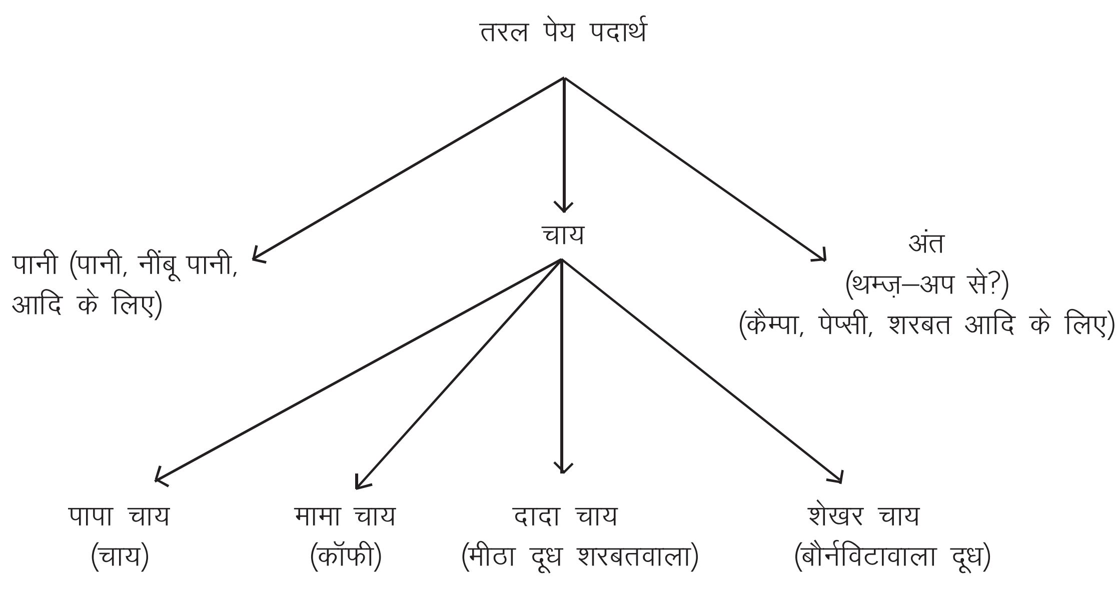
लेकिन अधिकतर ज्ञान तो पर्यावरण, समाज व दिमाग़ के आपसी क्रियाकलाप व तालमेल से ही बनता है व व्यवस्थित होता है। बच्चा निरन्तर अपने आस–पास की दुनिया को समझने की कोशिश करता रहता है। देखने, सूंघने, चखने, छूने व सुनने की इन्द्रियों के माध्यम से संदेश निरन्तर हमारे दिमाग़ में पहुंचते रहते हैं। कुछ देखकर या सुनकर किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया करने के लिए दिमाग़ शरीर को आदेश देता है। पर्यावरण से संदेश आने व दिमाग़ को उन्हें संजोकर आदेश देने की क्रिया–प्रक्रिया अत्यधिक जटिल होती है। अनुमान लगाइये उस बच्चे के दिमाग़ पर क्या गुजरती होगी जो अपने बिस्तर पर लेटा एक साल की उम्र में बाहर देख रहा है– हजारों तरह

के छोटे–बड़े पेड़–पौधे, न जाने कितने रंगों के और उनके बीच अनेक तरह के पक्षी, सामने कहीं कार तो कहीं ट्रक आदि। लेकिन खाली संदेश–आदेश से बात बन जाती तो समस्या काफ़ी सरल व सहज होती। बच्चे का सीखना भी सरल होता और एक समझदार कम्प्यूटर बनाना भी।

असली काम तो दिमाग़ को करना हैं असंख्य प्रकार की जानकारी को कुछ ऐसे व्यवस्थित तरीक़े से सजाना कि बात एक बार में समझ में आ गई तो फिर दोहराने की आवश्यकता नहीं। ख़ुदा जाने बच्चा कितने प्रकार के कुत्ते देखता है। शुरू में एक कुत्ता कहता है। और फिर अचानक एक दिन गाय, बैल, बिल्ली को भी कुत्ता कहता है। और फिर अचानक एक दिन गाय, बैल, बिल्ली व कुत्ते को पहचानने में कोई ग़लती नहीं करता। सारी उम्र कभी नहीं करता को हम सब जानते हैं कि कोइ भी दो कुत्ते पूरी तरह से एक समान नहीं होते।

बच्चे के ज्ञान को व्यवस्थित करने की प्रक्रिया को हम कुछ हद तक समझ सकें तो शायद बहुत लाभ हो। लगभग 16 महीने के शेखर को ही देखिए। अपने आस–पास के तरल पेय पदार्थों की दुनिया को उसने किस ख़ूबसूरती से व्यवस्थित किया है। लगता है उसने सबसे पहले 'पानी' को अन्य चीज़ों से अलग किया होगा, फिर 'पानी' व 'थम्ज़–अप' को। यह साफ़ है कि यह हमारी दुनिया के चाय–पानी नहीं है। यह शेखर की दुनिया के चाय–पानी हैं उनके मायने अलग हैं। उनकी छवियां अलग हैं। उनका दिमाग़ में वर्गीकरण अलग है। शेखर के दिमाग़ ने अपने शरीर के माध्यम से अपने पर्यावरण व समाज के साथ जूझते हुए यह खाका बनाया है। यह खाका सही या ग़लत के पैमाने पर नहीं आंका जा सकता। यह सीखने की प्रक्रिया का एक ख़ास–हिस्सा है। इस प्रक्रिया में हर गांव एक मंज़िल है। अपने आप में नियमबद्ध व सुसंरचित। सभी बच्चे पर्यावरण के जंगलों से गुज़रते वक़्त ऐसे–ऐसे खाके बनाते हैं और कुछ समय के लिए उपयुक्त स्थानों पर अपने खेमे गाड़ते है। आपकी बनाई पगडंडी पर ही वे चलें यह ज़रूरी नहीं। आप ज़बरदस्ती उन्हें किसी तौर–तरीक़े से सिखाने की कोशिश करेंगे तो आपको ही निराशा व खेद होगा। यह भी साफ़ है कि कैसा खेमा कहां, कब, कितनी देर लगेगा, यह निश्चय भी आप के लिए हर वक़्त करना संभव नहीं शायद।

लगभग 16 माह के शेखर की दुनिया का एक हिस्सा



अन्ततः बच्चे को ये सभी शब्द, उनका उच्चारण, उनका व्याकरणिक प्रयोग व उनसे जुड़ी अवधारणाएं– सभी सीखना है। 'चाय', 'कॉफी', 'दूध' आदि को अलग–अलग सीखना है। अभी उसके लिए पीनेवाला अधिक महत्त्वपूर्ण है, पेय पदार्थ का नाम नहीं। मुख्यः बात यह है कि

1. उसने यह व्यवस्था स्वयं बनाई है बिना किसी की मदद के। यानी अपने पर्यावरण से उसे जो मदद मिलती है उसमें यह सुगठित संरचना दूर–दूर तक नहीं। किसी ने उसे यह संरचना दिखाई नहीं हैं।

2. यह व्यवस्था नियमबद्ध है, इसकी संरचना को हम पहचान सकते हैं।

3. अपने तरीक़े से पर्यावरण से निरन्तर मदद लेते हुए यह संरचना बच्चा स्वयं बदलेगा।

4. हमारे दृष्टिकोण से संरचना में 'त्रुटियां' हैं। 'कॉफी' को 'चाय' (मामा–चाय) कहना ठीक नहीं, पर इस संचरना में तर्कसंगत है– बच्चे के दृष्टिकोण से।

गणित की दुनिया में भी आपको ऐसे कई उदाहरण मिल जायेंगे। किसी सवाल को हल करने के कई तरीक़े व उत्तर, जिन्हें हम लाल कलम से काटकर किनारे कर देते हैं, बच्चे के तर्कसंगत ज्ञान का परिचायक हो सकते हैं। तीसरी कक्षा की एक बच्ची को कुछ जोड़, बाक़ी, व गुणा के सवाल दियेः

26	46	508	58	69	25
+25	−38	−219	×7	×8	+26
411	614	627	35	48	411

यह साफ़ है कि यह बच्ची एक अंकीय जोड़ व गुणा के सवाल आसानी से कर लेती है। अभी उसे 'बाक़ी' की दुनिया की समझ ठीक से नहीं। बाक़ी के प्रश्नों में भी यह एक अंकीय जोड़ ही करती है और गुणा के प्रश्नों में एक अंकीय गुणा। आगे आप खुद सोचिए। माता–पिता, अध्यापक व पाठ्यक्रम के लिए इन बातों का क्या महत्त्व है। क्या बच्चों को अपने हल विकसित करने की अधिक जगह मिलनी चाहिए? कैसे?

भाषा की दुनिया में तो ऐसे उदाहरण आये दिन मिलते हैं। दो–तीन साल का बच्चा पूरी तरह से अपनी भाषा की संरचना को 'जानता' है, उसे हर तरह के पड़ावों से होकर गुज़रना ही पड़ता है। हर पड़ाव अपनी अलग तर्कसंगत व्यवस्था। वयस्क–मंजिल सदैव सामने पर उसके बदलने की संभावना निरन्तर बनी हुई, दोनों के द्वारा बच्चा जो उस ओर बढ़ रहा है और वयस्क जो उसका प्रयोग कर रहा है। एक प्रश्न तो सदैव हमारे सामने खड़ा रहता है। व्याकरण की विषमताओं व जटिलताओं के बारे में कोई भी व्यक्ति 'सचेत' नहीं होता यानी उनके बारे में कुछ कह नहीं सकता, चर्चा नहीं कर सकता। फिर भी हर बच्चा उन जटिलताओं को कैसे पकड़ लेता है। ज़रा सोचिए 'मैं रोज एक लाल सेब खाता हूं', 'मैं मीठी लस्सी पीती हूं' आदि जैसे साधारण वाक्य बोलने में कैसा जटिल ज्ञान समाहित है। कुछ अन्य वाक्य देखिए (' = व्याकरण के अनुसार अमान्य)

1. मेरे दो कान हैं।

   (* कान हैं। * मुझे दो कान हैं। * मेरे पास दो कान हैं।)

2. मेरे दो भाई हैं।

   (* मैं दो भाई हूं। * मुझे दो भाई हैं। * मेरे पास दो भाई हैं।)

3. मेरे दो नौकर हैं।

   (* मैं दो नौकर हूं। * मुझे दो नौकर हैं। * मेरे पास दो नौकर हैं।)

4. मेरे पास दो कुत्ते हैं।

   (* मैं दो कुत्ते हूं। * मुझे दो कुत्ते हैं। * मेरे दो कुत्ते हैं।)

5. मुझे बुखार है।

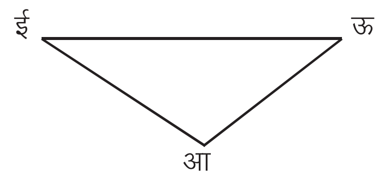
   (* मैं बुखार हूं। * मुझमें बुखार हैं। * मेरे बुखार हैं।)

6. मुझमें कई गुण हैं।

   (* मैं कई गुण हूं। * मुझे कई गुण हैं। * मेरे कई गुण हैं।)

सभी वाक्य 'मेरे अपने पास कुछ होने' के बारे में हैं इनकी संरचनाओं में क्या अंतर है? क्या यहां कोई नियमबद्ध व्यवस्था है? क्या बच्चे 3–4 साल की आयु के बाद कोई वाक्य बोलते हैं? क्यों नहीं?

ध्वनि के क्षेत्र के पड़ाव देखिए। हर भाषा में बच्चे पहले ''पापा, बाबा, मामा, मामी, दादा, दादी, मामू, चाचू' जैसे शब्द बोलते हैं। यानी हर भाषा में स्वरों के स्तर पर पहला व्यवस्थित पड़ाव :



और व्यंजनों के स्तर पर 'प–ब–म' अंतर आदि। REP–1 और 2 से आप जानते ही हैं कि 'प–ब–म' में क्या अंतर होता है। इस अंतर की जटिलता को पकड़ना आसान नहीं। फिर भी यह भी सच है कि ये सबसे अधिक 'नज़र आनेवाली' ध्वनियां हैं। क–ख–ग–घ के बारे में हम क्या कहें?

क्या बच्चे में सभी ज्ञान अंतर्निहित रहता है, जैसे– सुकरात या प्लेटो और अन्य कई विद्वान् मानते हैं। पर्यावरण की हल्की सी चिंगारी लगी और संपूर्ण ज्ञान प्रजवलित हो उठता है या बच्चा सभी कुछ अपने पर्यावरण से सीखता है और उसका दिमाग़ शुरू से लगभग एक साफ़ स्लेट सा होता है। या फिर ये कि बच्चा सीखने की काफ़ी क्षमताएं लेकर पैदा होता है और अपने पर्यावरण से निरन्तर बातचीत करता हुआ ज्ञान की संरचना करता है। क्या भाषा को एक अलग तरह की क्षमता व ज्ञान मानना आवश्यक है?

यह भी समझना आवश्यक है कि ज्ञान की संचरना किसी 'खालीपन' में नहीं होती। हर तरह के ज्ञान की अपनी एक ऐतिहासिक, राजनैतिक व सामाजिक पृष्ठभूमि होती है हालांकि कुछ विद्वानों का मानना है कि भाषा के ज्ञान का इतिहास व समाज से कुछ विशेष लेना–देना नहीं। उदाहरण के लिए 1963 में ग्रीनबर्ग नाम के भाषावैज्ञानिक को पांच महाद्वीपों की 30 दूर–दराज भाषाओं का निरीक्षण किया। इनमें स्वाहिली, बास्क, हिब्रू, जापानी, मलय, तुर्की व हिन्दी भी शामिल थी। उन्होंने पाया कि सभी भाषाओं में :

(क) कर्त्ता, क्रिया व कर्म की अवधारणा है।

(ख) क्रम या तो 'कर्त्ता–कर्म–क्रिया' (हिन्दी) है या फिर कर्त्ता–क्रिया–कर्म (अंग्रेज़ी)।

(ग) पहली संज्ञा अक्सर कर्त्ता होती है।

(घ) यदि क्रम कर्त्ता–क्रिया है तो भाषा में निश्चित विभक्ति संज्ञा के बाद यथा 'मेज़ पर'। यदि क्रम 'कर्त्ता–क्रिया–कर्म' हैं तो विभक्ति संज्ञा से पहले यथा "on the table."

(च) हर भाषा में कर्त्ता व क्रिया में संबंध दिखाने के स्पष्ट तरीक़े।

(छ) संबंध दिखानेवाले अंश सदैव नये शब्द बनानेवालों अंशों के बाद यथा–घर–घरवाला–घरवाले। ' घरेवाला नहीं। ' घरेवाले भी नहीं।

यही बहुत बड़ी बात है कि भाषा के क्षेत्र में एक 'सर्वव्यापक व्याकरण' की तलाश जारी है और रोज़ उसके नये–नये प्रमाण सामने आते हैं। 'जगह की समझ' को लेकर भी काफ़ी शोध चल रहा है।

ख़ैर अगर यह मान भी लें कि भाषा सीखने की क्षमता हर बच्चे में आत्मजात होती है फिर भी उसे भाषा तो अपने समाज से ही सीखनी होती है। और उस सीखने की प्रक्रिया के साथ केवल ध्वनि, शब्द व वाक्य संरचना ही नहीं जुड़े। बच्चे को उसके सांस्कृतिक व सामाजिक पक्ष भी सीखने होते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि बच्चा संरचनात्मक व सामाजिक पहलू अलग–अलग नहीं सीखता। जो बच्चा 'तू–तुम–आप' जैसे शब्द सीखता है वह यह भी सीखता है कि इन शब्दों का प्रयोग कहां और कैसे करना चाहिए।

बच्चे को पढ़ना–लिखना व गणित सिखाना हमारी मुख्य समस्याएं रहती हैं। एक तरफ़ तो हमें लगता है कि बिना पर्यावरण से विशेष मदद लिए बच्चा काफ़ी जटिल ज्ञान की संरचना कर लेता है। दूसरी तरफ़ स्कूल में हम अपने आपको अध्यापक–किताबों–कक्षा आदि के रहते भी काफ़ी विवश पाते हैं। अगर थोड़ा ध्यान से सोचें तो हम अनुभव करेंगे कि ऐसा नहीं है कि पर्यावरण से बच्चा मदद नहीं लेता पर वह मदद स्वेच्छा से जब चाहता है लेता है। जाने–अनजाने में बच्चों को यह जगह मिलती है जहां वे निरन्तर नई परिकल्पनाएं बनाते रहते हैं और उन पर प्रयोग करते रहते हैं। जैसे ही कोई अटपटा उदाहरण मिला वे अपनी परिकल्पना में कुछ फेर–बदल करते हैं। परिवार, रिश्तेदारों और मित्रों का स्नेहपूर्ण व्यवहार, शिशु का लोगों के ध्यान का मुख्य बिन्दु होना, छोटी–छोटी बात पर उसकी प्रशंसा होना, खेल–खेल में वह जो पढ़ता–लिखता है उसको समझने की कोशिश करना आदि यह सब शायद सीखने की प्रक्रिया के मुख्य अंग हैं। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि बच्चे के साथ हम जो बातचीत करते हैं, क्रिया–कलाप करते हैं–उनके लिए सार्थक होते हैं।

स्कूलों में बच्चों के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या हो ताकि ज्ञान की संरचना कुछ सुलभ हो सकेः

1. बच्चे मिट्टी का पुतला हैं या एक साफ़ स्लेट! उन्हें अच्छे नागरिक की छवि में ढालने का प्रयास करना चाहिए।
2. बच्चे सब कुछ पहले से ही जानते हैं। अध्यापक विश्राम करें।
3. बच्चों में ज्ञान को व्यवस्थित करने की अच्छी–ख़ासी क्षमता होती हैं। उसका लाभ उठाना चाहिए। कैसे?
4. भाषा सीखने की क्षमता क्या अनूठी है?
5. दिमाग़ के बारे में क्या मानकर चलें? शरीर के संदर्भ में क्या करें? पर्यावरण का प्रयोग कैसे करें? समाज से क्या सहयोग लें?

रमा कांत अग्निहोत्री : दिल्ली विश्वविद्यालय में भाषावैज्ञानिक हैं।
विद्या भवन सोसायटी के साथ गहरा जुड़ाव।